Chap-2

अध्याय - 2

रीतियुगीन परिस्थितियाँ

'लखपति जससिन्धु' के प्रणयन में तत्कालीन परिस्थितियों का भी योगदान रहा है। उनका विविध रूपात्मक प्रतिबिम्बन ग्रन्थ में मिलता है। अत: यह परम आवश्यक प्रतीत होता है कि लखपति जससिन्धु के अनुशीलन क्रम में तत्कालीन साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी आकलन कर लिया जाए। यह परिस्थितियाँ हिन्दी प्रदेशों में कैसी थीं जिनका दूरागत प्रभाव ग्रन्थ रचना पर पड़ा था और कच्छ प्रदेश की कैसी थीं जिनका नैकट्य का प्रभाव पड़ा था। साथ ही यह भी समुचित प्रतीत होता है कि 'लखपति जससिन्धु' जिस साहित्यिक धारा-'रीति' का सृजन है उसका नामकरण, काल सीमा तथा अन्य वैशिष्ट्य का संक्षिप्त उल्लेख कर लिया जाए जो अपने अध्ययन के पृष्ठभूमि स्वरूप रहेगी।

रीतिकाव्य :

'रीति' शब्द बहुत व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। 'रीति'

हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत 'रीतिकाल' में शब्द 'रीङ्' धातु से बना है जिसका अर्थ एक प्रकार की पद्धति या विधि समझा जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीति' का जो अर्थ था कालान्तर में आकर बदल गया। संस्कृत में सर्वप्रथम वामन ने रीति का प्रयोग किया और उसे काव्य की आत्मा घोषित किया।[1] इन्होंने रीति का अर्थ विशिष्ट पद रचना के रूप में स्वीकार किया। विशिष्ट गुण सम्पन्न पदावली ही 'रीति' का पर्याय बनी। आगे चलकर भोज ने मार्ग के रूप में स्वीकार किया[2] तो राजशेखर ने वचन विन्यास का क्रम माना[3] और विश्वनाथ ने पदों की संघटना के रूप में रीति को समझा।[4]

1- रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, पृ0 18

2- वैदर्भादि कृता: पन्था: काव्ये मार्गा इति स्मृता:।
वही, पृ0 40 (डा0 नगेन्द्र की लिखी भूमिका से उद्धृत)

3- वचन विन्यास क्रमो रीति:। वही, (पृ0 39 से उद्धृत)

4- पदसंघटना रीति रंग संस्था विशेषवत् उपकर्त्री रसादीनाम्।
साहित्य दर्पण,

हिन्दी में आने पर इसका रूप बिल्कुल ही परिवर्तित हो गया। यहाँ पर रीति का अर्थ अपना संकुचित घेरा तोड़ कर एक विस्तृत अर्थ का द्योतक बना। हिन्दी में भी केशवदास ने रीति का अर्थ पन्थ से लगाया। परन्तु अधिकांश ने इसका अर्थ एक प्रकार के दृष्टिकोण से लगाया। यह दृष्टिकोण काव्यशास्त्रीय आधार लिए हुए है। रीतिकाव्य अर्थात् काव्यशास्त्र के अंगों उपांगों पर प्रकाश डालनेवाला काव्य। संस्कृत में 'रीति', काव्य के केवल एक अंग की द्योतक रही, परन्तु हिन्दी में आने पर इसमें काव्य के सभी अंग समाहित हो गये। इस काल में ध्वनि, रस, अलंकार, छन्द, गुण, दोष, शब्दशक्ति इत्यादि सभी का विवेचन किया गया। अतः रीतिकाल में 'रीति' शब्द एक काव्यशास्त्रीय विधान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

काल निर्धारण :

प्रायः विद्वान् रीतिकाल का समय सम्वत् 1700-1900 तक मानते हैं।[1] यह समय रामचन्द्र शुक्ल जी द्वारा निर्धारित समय है जिसे विद्वानों ने स्वीकार किया है। डॉ० त्रिभुवनसिंह का कथन है कि -'हिन्दी कविता में अलंकार योजना तथा उसमें पूर्ण निखार सम्वत् 1500 के लगभग आया जिसका सम्वत् 1900 तक पूर्ण विकास होता रहा। इन सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए यदि सम्वत् 1500 से लेकर 1900 तक को हिन्दी साहित्य का मध्यकाल मानें तो अनुचित न होगा।[2] परन्तु इस मध्यकाल में भक्तिकाल और रीतिकाल दोनों का समावेश हो जाता है।

1- (क) हिन्दी साहित्य का इतिहास-पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 232
(ख) हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षष्ठ भाग) सं0 डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 170
(ग) रीतिकाव्य की भूमिका-डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 1

2- दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक-डॉ0 त्रिभुवनसिंह, पृ0 47

डॉ0 सत्यदेव चौधरी रीतिकाल का समय निर्धारण 1900 से भी आगे ले जाते हुए 1643 ई0 सन् से 1857 तक अर्थात् सम्वत् 1700 से सम्वत् 1914 तक मानते हैं।[1] विश्वनाथप्रसाद मिश्र सम्वत् 1600 से 1975 तक मानते हैं। उनका विचार है कि - 'जैसे सम्वत् 1600 से 1700 तक श्रृंगार का प्रस्तावना काल था उपक्रमकाल है वैसे ही 1900 से 1975 तक अवसान काल या उपसंहार काल।[2] इस तरह काल सीमा विवादास्पद होते हुए भी अधिकांशत: मान्य 1700 से 1900 ही है।

वास्तव में देखा जाये तो यह काल सीमा भी उचित नहीं। यह सीमा पं0 रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निर्धारित की गई है। इन्होंने रीतिकाल का प्रवर्तक चिन्तामणि को माना है जिनका समय सम्वत् 1700 है। प्रवर्तक कवि से ही रीतिकाल का प्रारम्भ मानने पर तो सम्वत् 1700 ठीक है। परन्तु इस काल के प्रवर्तक चिन्तामणि न होकर केशवदास हैं। केशवदास ने ही सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से रीति-ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनका समय सम्वत् 1658 है। उन्होंने 'रामचन्द्रिका' का समाप्ति समय 1658 बताया है। इसलिए अनुमानत: 1650 या उसके एक दो वर्ष बाद ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ कर दी होगी। यों तो हिन्दी का सर्वप्रथम रीतिग्रन्थ कृपाराम कृत 'हिततरंगिणी' है परन्तु उसे इतना महत्व नहीं मिला जितना केशवदास की रसिकप्रिया और कविप्रिया को मिला। हाँ, इतना अवश्य है कि केशव ने जिस परंपरा का सूत्रपात किया उसका प्रबल वेग 50 वर्ष पश्चात् चिन्तामणि के समय से दिखाई पड़ता है। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि यह परंपरा बिल्कुल ही समाप्त हो गई थी। एक नदी यदि अपने उद्गम स्थान से ही वेगवती होकर न बहे और थोड़ा आगे चलकर वेगवती हो जाये और बीच में

1- हिन्दी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 15

2- बिहारी- सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 24

वह नाले का स्वरूप धारण कर लेती है तो उसके उद्गम स्थान को विस्मृत नहीं कर दिया जाता। वेगपूर्ण होकर बहने वाले स्थान को ही उद्गम स्थान नहीं मान लिया जाता। यही बात हम केशवदास के सम्बंध में भी कह सकते हैं। उनके द्वारा चलायी गई परम्परा एकदम सूख नहीं गई थी वरन् थोड़ी सीमित अवश्य हो गई थी। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उसके प्रवर्तक को ही भुला दिया जाये। केशवदास को प्रवर्तक मानते हुए रीतिकाल का समय भी केशवदास से ही माना जाना चाहिए। सम्वत् 1700 से प्रारंभ माननेवाले विद्वान् ही शुक्ल जी की भाँति प्रवर्तक चिन्तामणि को न मानकर केशव को मानते हैं तो फिर उनके समय को क्यों छोड़ दिया जाये। प्रवर्तक के समय से ही युग का प्रवर्तन समझना चाहिए। प्रवर्तक केशव रहें और समय चिन्तामणि का लें यह कुछ उचित प्रतीत नहीं होता। अत: रीतिकाल का प्रारम्भ सम्वत् 1650 से ही माना जाना चाहिए।

<u>नामकरण :</u>

रीतिकाल के नामकरण पर भी पर्याप्त मतभेद रहा है। आचार्य शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के इतिहास को तीन भागों में विभक्त करते हैं- आदिकाल, मध्यकाल तथा आधुनिककाल। पुन: मध्यकाल को दो भागों में विभक्त किया है - पूर्व मध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल तथा उत्तर मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल। हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास भी 'रीतिकाल' ही उपयुक्त नाम मानता है। इसके अतिरिक्त भी अन्य विद्वानों ने ~~रीतिकाल ने~~ रीतिकाल माना है। विश्वनाथप्रसाद मिश्र इसे श्रृंगारकाल कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। राजनाथ शर्मा भी इन्हीं से सहमत हैं। डॉ0 रामशंकर शुक्ल 'रसाल' इसे <u>कलाकाल</u> के नाम से अभिहित करते हैं। एक अन्य विद्वान् का विचार है कि- प्रवृत्तिपरक कोई उपयुक्त नाम न मिलने के कारण इस युग को 'उत्तर मध्ययुग' के नाम से अभिहित करना ही अधिक उपयुक्त है। वास्तव में इस युग के प्रारंभ होने के पूर्व हिन्दी साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ वर्तमान थीं, उन्हीं का विकास इस युग में दिखाई पड़ता है।[1] पं0 महावीरप्रसाद द्विवेदी ने

1- हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्ययुग-डॉ0 राजकिशोर पाण्डेय, पृ0 83

इतिहास के तीन भागों में बाँटा है - बीजवपन, अंकुरोद्भव, पत्रोद्गम । हिन्दी का रीतिकाल ही इनका अंकुरोद्भव है ।[1]

वास्तव में रीतिकाल ही नाम अधिक उपयुक्त है । इस काल में रीति का अर्थ काव्यशास्त्र के अंगों उपांगों के विवेचन से रहा । एक शास्त्रीय दृष्टिकोण के रूप में रीति विद्यमान है । इस युग में यही प्रवृत्ति विशेष दिखाई पड़ती है । प्रत्येक आचार्य ने इस रीति के साथ कोई न कोई विशेषण जोड़ दिया है ।[2] माना कि श्रृंगार भी इस युग की मुख्य प्रवृत्ति रही है । परन्तु वह भी काव्यशास्त्र के नियमों से आबद्ध रही है । कवियों का आचार्य रूप भी साथ-साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलता रहा है । इन्होंने जो कुछ भी कहा काव्यशास्त्र के अधीन रहकर कहा । लक्ष्यग्रन्थों के साथ-साथ लक्षणग्रन्थों का भी निर्माण हुआ और यही उनका मुख्य उद्देश्य रहा भी । श्रृंगार के दोनों पक्षों और नायक नायिका भेद पर बहुत कुछ लिखा गया परन्तु ये भी तो काव्यशास्त्र के अंगों के रूप में हमारे सामने रखे गये । इनकी विवेचना शास्त्रीय आधार पर ही हुई । रीतिकाल के अंतर्गत किया गया विभाजन भी अपने नाम को सार्थक करता है । इसके तीन उपविभाग किए गए हैं- रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतियुक्त । इसमें रीतिकाल के समस्त कवियों का समावेश हो जाता है । श्रृंगार काल कहने से कवियों का आचार्यत्व प्रच्छन्नरूप में रह जाता है जो कि इतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि उनका कवि रूप । अत: रीतिकाल नामकरण ही अधिक उपयुक्त है और सार्थक भी ।

1- दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक-डॉ0 त्रिभुवनसिंह, पृ0 46 से उद्धृत ।

2- (अ) रीति सुभाषा कवित की बरनत बुध अनुसार - चिन्तामणि ।
हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास में से उद्धृत, पृ0 179
(आ) सो विश्रब्ध नवोढ़ यों बरनत कवि रस रीति-मतिराम, वहीं पृ0 179
(इ) अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति- देव, वहीं 179
(ई) काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों- भिखारीदास, वही-पृ0 179
(उ) छन्द रीति समुझै नहीं बिनपिंगल के ज्ञान- सोमनाथ, वहीं-पृ0 179
(ऊ) ताहि को रति कहत हैं रस ग्रन्थन की रीति-पद्माकर, वही-पृ0 180
(ए) कविता रीति कछु कहत हों व्यंग्य अर्थ चितलाय-प्रतापसाहि, वही-पृ0 180

परिस्थितियाँ :

प्रत्येक देश का साहित्य उस देश की परिस्थितियों से ही सिंचित होकर पल्लवित और पुष्पित होता रहता है। देश की परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। साहित्यकार जाने अनजाने ही इन परिस्थितियों को चित्रित करता चलता है। साहित्यकार उन्हीं परिस्थितियों में जीवित रहता है और साहित्य की सर्जना करता है। इसलिए उनकी प्रतिच्छाया यदि उसकी रचनाओं में पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यही बात हम रीतिकाल के सम्बंध में भी कह सकते हैं। रीतिकाल का साहित्य भी अपने वर्तमान युग की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाया है। उन परिस्थितियों को हम साहित्यरूपी दर्पण में स्पष्ट देख सकते हैं। अब हम देखेंगे कि रीति साहित्य में कहाँ तक उस युग की परिस्थितियाँ प्रतिबिम्बित हुई हैं -

राजनीतिक परिस्थिति :

रीतिकालीन साहित्य रूपी दर्पण में मुगलकालीन साम्राज्य के उत्कर्ष की चरम सीमा और पतन का प्रतिबिम्ब झलकता है। शाहजहाँ के समय तक इस साम्राज्य का उत्कर्ष काल है तत्पश्चात् औरंगजेब के समय से इस साम्राज्य का पतन प्रारंभ होने लगा। शाहजहाँ के राज्यकाल में बराबर शांति बनी रही किन्तु औरंगजेब के शासनकाल से अशांति फैलने लगी। अपने पिता की राजगद्दी को प्राप्त करने के लिए औरंगजेब ने अपने भाइयों को युद्ध में पराजित करके स्वयं गद्दी हथिया ली।[1] शासन सत्ता को अपने हाथ में लेने के लिए यही नीति कच्छ भुज के भावी नरेश महाराव लखपति ने भी अपनायी। लखपति जी ने अपने पिता राजा देशल को बन्दी बनाकर तथा दीवान देवकर्ण की हत्या करवा कर सत्ता प्राप्त कर ली।[2] अतः पिता के प्रति

1- हिन्दी का वृहद इतिहास (षष्ठ भाग) सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 67

2- कवि गोपकृत- काव्यप्रभाकर किंवा रुक्मिणी हरण तथा अन्य ग्रन्थ- डॉ० कुँवरचन्द्रप्रकाश सिंह, पृ० 4 से उद्धृत।

असन्तोष यदि दिल्ली प्रदेश में देखने को मिलता है तो कच्छ भुज में भी स्थिति समान रही । लखपति जी तड़क-भड़क के शौकीन थे । उनकी इस प्रवृत्ति को बढ़ाने में अप्रत्यक्षरूप से पिता का भी हाथ था । उनके पिता राज-मन्त्रणा के लिए लखपति जी को औरंगजेब के दरबार में भेजा करते थे ।[1] वहाँ की विलासिता, वहाँ के ऐश्वर्य को देख कर उसकी ओर आकर्षित हुए । अतः वैसे ही वातावरण में रहना चाहते थे । परन्तु पिता की दृष्टि में यह अपव्यय था । दिल्ली में ही कई स्थापत्य कला के अनेक उत्कृष्ट भवनों का निर्माण हो चुका था । ऐसे ही भवनों का निर्माण लखपति जी भी कराना चाहते थे । परन्तु पिता की ओर से सहयोग न मिलने के कारण पिता के विरुद्ध विद्रोही प्रवृत्ति जागृत हुई । फलतः पिता को नजरबन्द कर दिया और मुक्त हाथों से धन खर्च किया जाने लगा । अपनी इच्छापूर्ति के लिए ही महाराव लखपति जी ने गद्दी पर बैठने के पश्चात् 'आइना-महल' जैसी भव्य इमारत का निर्माण करवाया जो उनकी तड़क-भड़क की प्रवृत्ति की ओर भी संकेत करती है । इसका उल्लेख 'लखपति जस सिन्धु' में एकाध स्थल पर मिलता है । जैसे -

> मुकुर के भौन मांहि होति प्रतिबिंबित यों एक एक घनी भांति
> व्यापि रही यथा गति ।[2]

प्रस्तुत उदाहरण लखपति जी की सभा से सम्बंधित है ।

भौन में औसौ तमासौ भयौ तहां सौंचकी फेरि ह्सो विलसाइ ।[3]

1- कवि गोपकृत-काव्यप्रभाकर किंवा रूक्मिणी हरण तथा अन्य ग्रन्थ- डॉ0 कुँवरचन्द्रप्रकाश सिंह, पृ0 4 से उद्धृत ।

2- ल.ज.सिं0, प्र.त. छन्द सं0 5

3- वही - स.त. छन्द सं0 17

यह उदाहरण राजा की श्रृंगारिक प्रवृत्ति का द्योतक है। महाराव लखपति जी आईना महल में रति क्रीड़ा कर रहे हैं। नायिका जब अपना प्रतिबिम्ब उन दर्पणों में देखती है तब वह भौंचकी रह जाती है, पुन: अपनी दशा देखकर हँसने लगती है, परन्तु यह विचार आते ही कि राजा के साथ अन्य स्त्री है, दु:खी होती है।

उत्तर भारत में औरंगजेब के पुत्रों में भी संघर्ष हुआ था। वे सब के सब निकम्मे तथा विलासी थे। शाहआलम गद्दी पर बैठा परन्तु वह कुशल शासक न सिद्ध हुआ और सन् 1712 ई० सन् में मुगल साम्राज्य का पतन प्रारंभ हो गया। यह अव्यवस्था तथा अशांति दिल्ली, आगरा तक ही सीमित रही। सन् 1738 में नादिरशाह का आक्रमण हुआ और 1761 में अब्दाली ने आक्रमण किया। सन् 1803 से तो अंग्रेजों का आगमन हो गया था। देश में विलासी वातावरण, निरंकुश शासन तथा मनोरंजन ही प्रमुख था। देश जनता को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। दूसरी ओर कवि अपने आश्रयदाता का बखान कर उसकी प्रशंसा करता था। राजा के शौर्य, प्रताप तथा वीरता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जाते थे। फलस्वरूप अत्युक्तिपूर्ण काव्य का सृजन होने लगा। यही तथ्य हमें लखपति जससिन्धु में भी मिलता है। महाराव लखपति जी के आश्रय में रहते हुए कुँवरकुशल ने अनेक प्रकार से उसका वर्णन किया है। यद्यपि यह इतिहाससम्मत है कि जब तक महाराव लखपति जी (सन् 1741 से सन् 1761 तक) राजगद्दी पर रहे तब तक कोई भी बाह्य आक्रमण नहीं हुआ। इतना अवश्य है कि राजा देशल के समय औरंगजेब की ओर से सन् 1730 में कराये गये आक्रमण को निष्फल करने में अपने अपूर्व शौर्य का परिचय दिया था। गुजरात का सूबेदार सरबुलन्दखान ने आक्रमण किया था जिसके साथ मोरबी का नवाब काँयाजी था। कुँवर लखपति जी ने उन्हें युद्ध में परास्त कर दिया था।[1] जिसे श्रुतज्ञान के आधार पर कुँवरकुशल ने 'लखपतिजससिन्धु' में लिपिबद्ध किया है।

रीतिकाल में राजा ही सर्वोपरि था। उसे हर प्रकार से खुश रखने का प्रयत्न किया जाता था। राजा के पास प्रत्येक वस्तु को सजा सँवार कर उपहार

1. कवि जोपकृत काव्यप्रभाकर किंवा रुक्मिणी हरण तथा अन्य ग्रन्थ सं० कुँवरचन्द्र प्रकाशसिंह पृ. ५ से उद्धृत

स्वरूप ले जाई जाती थी। साहित्य के क्षेत्र में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। राजा को सुनाने के उद्देश्य से काव्य-रचना की जाती थी। अतः चमत्कृत करनेवाला काव्य अस्तित्व में आया। रीतिकाल से पूर्व का काव्य पूर्णतः भावना पर आधारित है। यहाँ पर भावों की विशुद्ध अभिव्यंजना देखने को मिलती है जो हृदय पर अपनी छाप अंकित करने वाला है। रीतिकाल का काव्य हृदय के साथ-साथ बुद्धि को भी चमत्कृत करने वाला काव्य है। इसके पीछे फारसी साहित्य का प्रभाव भी कार्य कर रहा था। हिन्दू राजाओं के दरबार में फारसी कवियों को भी प्रश्रय मिल रहा था। वे दरबार में अपनी धाक जमाने के लिए चमत्कारिक काव्य सुनाते थे। इस होड़ में जीतने के लिए हिन्दी कवियों को भी यही मार्ग अपनाना पड़ा। फलतः चमत्कारपूर्ण काव्य का सृजन हुआ। डॉ0 भगीरथ मिश्र का कथन रीतियुग के काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति अलंकरण पर पर्याप्त प्रकाश डालता है - जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में भेंट आदि के द्वारा प्रसन्न करने की प्रथा थी उसी प्रकार आलंकारिक विशेषता, उक्ति-वैचित्र्य, नायिका के सौन्दर्य, स्वभाव-चित्रण, शब्द-चमत्कार विलास -वैभव आदि के वर्णन द्वारा साहित्यिक क्षेत्र में भी प्रभाव डालने का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसीलिए हमें जीवन की गंभीर विवेचना करनेवाला साहित्य इस समय उतना नहीं मिलता जितना कि चमत्कृत करनेवाला।[1] यही प्रवृत्ति 'लखपति जससिन्धु' में भी दिखने को मिलती है। सारे ग्रन्थ में (द्वितीय तरंग को छोड़कर) अन्यत्र कहीं भी जनजीवन का चित्रण नहीं मिलता। सर्वत्र अपने आश्रयदाता का ही वर्णन किया गया है। यह दूरागत प्रभाव लखपतिजससिन्धु पर देखा जा सकता है। जनता की भावनाओं का विद्रोह तथा आक्रोश वर्णित नहीं हुआ है।

सामाजिक परिस्थिति :

रीतिकाल सामन्तवादी युग है। बादशाह से लेकर व्यापारी तक सभी सामन्तशाही के साँचे में ढले हुए थे। सभी पदों पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों में शान-शौकत

1. हिन्दी रीति साहित्य - डॉ० भगीरथ मिश्र पृ.6

को कायम रखने की अदम्य लालसा थी । मुगल बादशाह भी अपना रहन-सहन अलंकृत तथा तड़क-भड़क से युक्त रखता था । इनका जीवन बहुत ही खर्चीला था । वस्त्राभूषण पर बहुत अधिक व्यय किया जाता था । भोजन में अनेक प्रकार के व्यंजनों की व्यवस्था की जाती थी । संभवत: इसी कारण रीतिकालीन काव्य में `अलंकरण की प्रधानता मिलती है । उन पर सुरा और साकी का प्रभाव भी था। सुरापान अत्यधिक मात्रा में किया जाता था । शृंगारिकता और विलासिता का ताण्डव नृत्य हो रहा था । विलासिता रूपी सरिता नैतिकता के किनारों को तोड़ती हुई प्रबल वेग से उफनती हुई बह रही थी । इस युग में नारी मात्र वासना की पुतली बन कर रह गई थी । उसके अन्य रूपों को (माता, बहन, पुत्री) बिल्कुल ही विस्मृत कर दिया गया था, गणिका का रूप ही शेष रह गया था । नारी भी इस शारीरिक तृप्ति में अपनी सार्थकता समझती थी । `मातृत्व की महिमा से मंडित नारी यहाँ जैसे अपनी सब विशेषताओं को खो बैठी है और वह केवल विलास और भोग की उपकरण मात्र बन गई है ।[1] इसी कारण जब वह अपने पुत्र का मुख चूमती है तो उसमें वात्सल्य का कोई भाव नहीं । वरन् वह इसलिए चूमती है कि उसके पति के द्वारा मुख चूमने की सुखद अनुभूति को अनुभव कर रही है -

बिहँसि बुलाय बिलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि ।
पुलकि पसीजति पूत को पिय चूंम्यौं मुँह चूम ।।[2]

यही कारण है कि हमें रीतिकालीन काव्य में घोर शृंगारिकता के दर्शन होते हैं । इस युग में नारी का शरीर विशेष आकर्षण का केन्द्र बन गया था । `अत:

1- हिन्दी और उसके कलाकार-फूलचन्द्र जैन `सारंग` पृ0 सं0 156

2- बिहारी-पं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 224

जिस प्रमदा को सन्त और भक्त कवियों ने सब दु:ख खानि के रूप में देखा था, वह यही सामन्तों के रनिवासों में रहनेवाली प्रमदा थी जो स्वयं विलास,ईर्ष्या,काम और वासना के समुद्र में डूबी हुई अपने पति, नायक आदि के लिए स्वयं एक चेतन सजीव विलास की सामग्री बन बैठी थी"।[1] जहाँगीर के समय से नैतिकता का बाँध टूटने लगा था। राजा एक पत्नीव्रत नहीं थे। अपने हरम में अनेक पत्नियाँ, सेविकाएँ तथा परिचारिकाएँ रखते थे और सभी से वैध अवैध सम्बन्ध होते थे। बालक प्रारम्भ से ही उस विलासी वातावरण में रहते थे और दासियों द्वारा संरक्षित थे। इन सबका प्रभाव उनके बाल मस्तिष्क पर पड़ता था। हरम में रखी जानेवाली नारियों का चुनाव केवल यौवनरूप के आधार पर होता था। राजा उनसे मनमाना व्यवहार करता था। इसलिए ही इन सबका चित्रण रीतिकाव्य में मिलता है। बूढ़ी स्त्रियाँ जासूसी का काम करती थीं। "ये कूटनियाँ स्थान-स्थान से सुन्दरी स्त्रियों को धोखा-फरेब करके या लालच से महलों में ले आती थीं। रीतिकाव्य की दूतियाँ बहुत कुछ इनका ही प्रतिरूप थीं"।[2] राजा ही नहीं मनसबदार, अमीर, उमराव सभी इस विलासिता की पंक में निमग्न थे। सभी राजा का अनुकरण करते थे। इनका रहन-सहन किसी राजा से कम न था। "मुगल दरबार के अमीरों और राज कर्मचारियों का जीवन भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। अधिकृत राजे भी अपने मुगल अधिपतियों का अनुगमन अपने को सजाकर रखने में करते थे। मुगल दरबार धरती पर दूसरी इन्द्र सभा थी।[3] इस युग में शाही पदवियों को सम्मान की दृष्टियों से देखा जाता था। लोगों में इन पदवियों को प्राप्त करने के लिए होड़ सी लगी रहती थी। श्री लूनिया के अनुसार- "भोग विलास से परिपूर्ण जीवन मुगल राज दरबार

1- हिन्दी रीति साहित्य-डॉ0 भगीरथ मिश्र, पृ0 8

2- रीतिकाव्य की भूमिका- डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 11

3- दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक-डॉ0 त्रिभुवनसिंह, पृ0 54

और मुगल युग के सम्मान के लिए आवश्यक वस्तु थी । उच्च वर्गों के वस्त्र-भोजन और जीवन निर्वाह एवं रहन-सहन में भी विलासिता की आभा झलकती थी ।+ + + इस युग में भारतीय राज-सभाओं और सामन्तों को जीवन में सबसे अधिक आकर्षक तत्व भोग-विलास की अतुलनीय भावना थी ।[1] मध्यम वर्ग और कवि वर्ग भी इससे अछूता न रह सका । वे भी उच्च पद को प्राप्त करना चाहते थे । कलाकार रहते तो निम्न वर्ग में थे परन्तु चापलूसी करके राज्याश्रय प्राप्त कर लेते थे । फिर राजा की प्रशस्ति, उसकी अभिरुचियों का ही वर्णन काव्य में होता था । इसलिए ही प्रशस्तिपरक काव्य अस्तित्व में आया । इन कलाकारों की आशायें और आकांक्षाएँ उच्च वर्ग की सी थीं । इनका ठाठ-बाट भी वैसा ही था । इस प्रकार के ऐशो-आराम से युक्त जीवन का चित्रण इस पद्य में बखूबी उभर कर आया है ।

गुलगुली गिल में गलीचा है गुणीजन हैं,
चाँदनी हैं चिक है चिरागन की माला है ।
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी,
सेज हैं सुराही है, सुरा है और प्याला है ।।
शिशर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं ।
जिनके अधीन एते उदित मसाल हैं ।
तानतुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं
सुबाला है दुशाला हैं बिशाला चित्रशाला हैं ।[2]

अब शेष रह जाता है निम्नवर्ग । निम्न वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । समाज दो वर्गों में बँटा हुआ था एक शोषक दूसरा शोषित । शोषक वर्ग

1- मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति-दिनेशचन्द्र भारद्वाज, पृ0 25 से उद्धृत

2- पद्माकर - सम्पादक- विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 165

धनी था और शोषित निर्धन। शोषित वर्ग में गरीब, कृषक, मजदूर और कारीगर आते हैं। इनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही दयनीय थी। फलस्वरूप अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भी बड़ी कठिनाई से कर पाते थे। धनी वर्ग और धनी होता जा रहा था, गरीब और अधिक गरीब। इन्हें सताया भी बहुत जाता था। अमीर लोग इन्हें अपनी सम्पत्ति समझते थे। इनकी मेहनत का बहुत दुरुपयोग किया जाता था। अधिक मजदूरी लेकर पैसे कम दिये जाते थे। साथ ही अत्याचार भी सहन करने पड़ते थे। कृषक वर्ग भी बहुत पीड़ित था। उनकी खड़ी फसल को सैनिक तथा उनके घोड़े रौंदते चले जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रकृति भी इन्हें सुख की साँस नहीं लेने देती थी। समय-समय पर अकाल भी इन पर हमला करने से नहीं चूकते थे। फिर जंगली जानवर इन्हें तकलीफ पहुँचाने में कैसे पीछे हटते ? समाज में दो अत्युक्तिपूर्ण परिस्थितियाँ थीं - एक पूर्ण आसक्ति की तो दूसरी पूर्ण विरक्ति की। अमीरों में पूर्ण आसक्ति की प्रवृत्ति पाई जाती थी तो निर्धनों में पूर्ण विरक्ति की। अछूतों को दीन समझा जाता था। जातीय संगठन बिखरा हुआ था। स्वयं मुसलमानों में भी सुन्नी-शिया में आपस में मतभेद था। इन निर्धनों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए एक विद्वान ने सच ही कहा है - "सचमुच इस समय के प्रासाद इन्हीं लोगों की हड्डियों पर खड़े हुए थे, इन्हीं के आँसू और रक्त की बूँदें जमकर अमीरों के मोती और लालों का रूप धारण कर लेती थीं"।[1]

उच्च वर्ग के अंतर्गत राजा से सम्बंधित प्रमुख दो प्रवृत्तियाँ इस काल में

1- रीतिकाल की भूमिका- डॉ० नगेन्द्र, पृ० 13

दिखलाई पड़ती हैं एक राजा की घोर शृंगारिक भावना तथा दूसरी मध्यमवर्ग को राज्याश्रय देने की भावना। लखपतिजससिन्धु में हमें उच्च वर्ग का चित्रण देखने को मिलता है। इसमें विशेष रूप से महाराव लखपति जी का चित्रण किया है। इसमें उनके महल का, उनके वैभव का वर्णन किया है। लखपति जससिन्धु में इन दोनों प्रवृत्तियों के प्रमाण मिलते हैं। राजा के हरम में परिणीता पत्नी के अतिरिक्त अन्य अनेक स्त्रियाँ भी रहती थीं। महाराव लखपति सिंह के भी यद्यपि बत्तीस गुणों से सम्पन्न रानियाँ थीं तथापि पच्चीस गायिकाओं के साथ भी उनके सम्बंध थे।[1] जिनमें से प्रत्येक गायिका का सम्बन्ध भी अलग-अलग रूप में दर्शाया गया है। रतन गायिका का महाराव के साथ सम्बंध राधा और कृष्ण की भाँति था[2] और जोम गायिका रमा और लक्ष्मी की तरह प्रतीत होती है।[3] आछी गायिका का स्नेह भी समुद्र की लहरों की भाँति है।[4] इस समय में राजा की सभा

1- सुघर रानिये जदपि शुभ बरनी लछिन बतीस।
तदपि लष्षपति के परम पठि गायिनि जुपचीस।।
ल.ज.सिं0,प्र.त.छन्द सं0 113

2- भवपावन वृषभानुजा यदुपति जासु प्रसन्न।
जोति जोन्ह सी जगमगै राधा किंधौ रतन।। वही-छन्द सं0 114

3- रतनाकर तन जासु रुचि जदुपति सौं ज्यौं लीन।
पच्चास और पदमिनी रमा कि जोम रंगीन।।
वही- छन्द सं0 116

4- पिय सनेह जलपूरि बढि बढत चलत बहु अंग।
घटै घटत बढि बढत पुनि आछी उदधि तरंग।।
वही- छन्द सं0 117

इन्द्र सभा से कम न थी । यही तथ्य महाराव लखपति सिंह के सन्दर्भ में भी सत्य घटित होता है । उनकी सभा में गायिकायें- राग का अखाड़ा ही तैयार कर देती थीं और राजा इन्द्रवत सुशोभित होते थे ।[1]

दूसरी प्रवृत्ति राज्याश्रयिता की है । अनेक कलाकारों को राजा अपने आश्रय में रखते थे और उनकी कला को अभिव्यक्त करने के साधन प्रदान करते थे । लखपति जी भी इसी प्रवृत्ति का द्योतन करते हैं । उन्होंने आम्बेर आदेश भेजकर मयाराम नामक संगीतज्ञ को बुलाया था जो अपने पुत्र फकीरचन्द्र के साथ आये थे और इन्होंने गायिकाओं को लेकर संगीत और नृत्य में प्रवीण कर दिया था -

अब लषपति आंबेर लौं मुदित भेजि फुरमांन ।
बेगि बुलाये प्यार बहु चातुर अति चहुं आन ।।
मयाराम आये सुमन सुत फकीरचंद संग ।
सपरिवार राषे समुफि संगीतीसर बंग ।।
रतनाकर कौं मत रूचिर सिषायौं सबै सुजांन ।
निपुन करी सब नायिका बोलै कितो बषांन ।।[2]

इसके अतिरिक्त महाराव ने एक अन्य आश्रित कारीगर रामसिंह मालम को भी अपने खर्च से यूरोप भेजा था । वहाँ से हुनर सीखकर आने पर भुज में अनेक कारखाने स्थापित कराये -

---

1 - रच्यो अषारो राग कौ इंद्र अषारा रूप ।
गार्मिनि मन अमरी अषिल लषपति इंद अनूप ।। ~~वही~~ ल॰ज॰सिं॰, प्र॰रो॰, छन्द सं0 125

2- ~~ल.ज.सिं0,प्र.त.~~ वही छन्द सं0 119 , 20, 24

चक्रवर्त्ति लषापति चतुरा अतुल जासु उपगार ।
मालिम कौं कीनौं हुकम भलपन गुन भंडार ।
अंग्रेज की अवनि मैं मालिम इहिं मुद्देस ।
रहि कैं द्वादश बरष लौं सीषहु हुनर अशेष ।।
प्रभु लषापति करिकैं कृपा पठयौं पहुच्यौं जाइ ।
विद्या प्रापति पति हुकम सुषाकरभ्ये सुभाइ ।
जो इस बैदिक जिनस की बिविध वासना बोध ।
लषि रस करिबौं लौंह कौं तोपनि कौतिमि सोध ।।
बुनिबौं सरस बनात कौं बहुरि वनाती रंग ।
काच करन रेसम कन गनित चिकित्सा अंग ।।[1]

धार्मिक परिस्थिति :

इस युग की धार्मिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी । प्रत्येक जाति विलासिता और भौतिकता के पंक में निमग्न हो चुकी थी । आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता ने ले लिया था । भावात्मकता को बरबस धक्का देकर कलात्मकता उसके पवित्र पद पर आसीन हो चुकी थी । इस युग में ईश्वर और अल्लाह को छोड़कर पंडितों और मौलवियों की पूजा मुख्य रूप से होने लगी थी । उन्हीं के कहने पर जनता चल रही थी । उनका कहा गया प्रत्येक वाक्य ब्रह्म वाक्य मान लिया जाता था । इन मुल्ला, मौलवियों, पंडितों ,महन्तों के मन में भी विलासिता का आकर्षण घर कर गया था । इनके ठाठ-बाट बड़े राजसी होते थे जो किसी भी नवाब के लिए ईर्ष्या का कारण बन सकते थे । भक्तिकाल में जो उदात्तता और तन्मयता मिलती थी वही इस

ल० ज० सिं०, ब्रि० त० छं० सं० 26-30
1- ~~रीतिकाव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ०~~ 13

काल में कलात्मकता के संकुचित घेरे में घिर कर आठ-आठ आँसू बहा रही थी। व्यक्तियों में द्वन्द्व पाया जाता था एक ओर तो विलासिता का आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींच रहा था तो दूसरी ओर वे अपने प्राचीन धार्मिक संस्कारों से पूर्णतः अलग नहीं हो पा रहे थे। 'हमारी भक्तियुगीन आध्यात्मिक प्रवृति इस नये युग की परिस्थितियों से प्रभावित हो भौतिकवादी बन गई थी, यद्यपि अध्यात्म से पूरी तरह पल्ला नहीं छुड़ा सकी थी। इसी कारण हमें विशुद्ध रूप से श्रृंगारी माने जानेवाले बिहारी आदि में भक्ति सम्बंधी आध्यात्मिक उक्तियाँ यथेष्ट परिमाण में मिल जाती हैं। अंतर केवल अनुभूति की गहनता, तन्मयता और मात्रा का ही रहा है।[1] इस युग में प्रत्येक सम्प्रदाय बाह्याडम्बर को विशेष महत्व देने लगा था। आन्तरिक तन्मयता और गंभीरता लुप्त हो चुकी थी। सर्वत्र स्थूलता, ऐहिकता का ही प्राधान्य देखने को मिलता है। भक्ति के कृष्ण और राम मात्र नायक बनकर रह गये थे। कृष्ण और राधा के व्याज से शारीरिक कामचेष्टाओं, श्रृंगारिक दृश्यों का चित्रण उच्छृंखलता से हो रहा था। तभी तो कहा-

> आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई नतौ राधिका कन्हाई-सुमिरन कौ
> बहानौ है।[2]

राधा का देवी रूप सर्वथा विलुप्त हो चुका था। मात्र उसका श्रृंगारी रूप ही शेष रह गया था। अपने इष्टदेव की श्रृंगारपूर्ण लीलाओं का गान करना ही धर्म का मुख्य अंग बन गया था। निम्बार्क सम्प्रदाय के परकीया वाद ने आग में घी का काम किया। रूपगोस्वामी ने नायिका भेद को आत्मसात् करके इस प्रवृत्ति को और अधिक बढ़ावा देने में सहयोग प्रदान किया। तुकाराम के अभंग और रामदास के 'दास बोध' द्वारा धार्मिक जागृति हो रही थी। सिक्ख धर्म भी जीवन से युक्त था परन्तु यह सब

1- हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-राजनाथ शर्मा, पृ0 385

2- भिखारीदास ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड) विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 4

हिन्दी क्षेत्र से दूर था। हिन्दी प्रदेश में लोग धर्मभीरू हो गये थे। तड़क-भड़क, अलंकरण की ओर आकर्षित होने के कारण भावत्पूजन में बाह्याचार और बाह्याडम्बर को स्थान मिला। धर्म की विशुद्ध भावना तो समाप्त हो गई थी केवल बाह्य प्रदर्शन शेष रह गया था। मुसलमान भी रूढ़िवादी हो गये थे। कुरान की आयतें भर पढ़ने से आत्मिक तृप्ति नहीं हो पा रही थी। सामान्य जनता अन्धविश्वास, जादू, टोनों, पीर, मौलवियों पर विश्वास रखनेवाली थी। अपने उपासक की जीवन गाथा का गान करने के लिए अनेक आयोजन किये जाते थे। इस प्रकार जनता की धर्म भावना उनके मनोविनोद का साधन भी थी। वही अलौकिक संकटों में ग्रस्त नर-नारियों के हृदय में परलोक की आशा उत्पन्न करके उत्साह और उत्फुल्लता का संचार करती थी। अन्यथा जीवन असह्य हो जाता। इस धार्मिकता में अन्ध-विश्वास होते हुए भी जीवन की शक्ति थी। क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध जनता के नित्यप्रति के संघर्ष से था। यह परम्परा का पालन मात्र नहीं था, जीवन की आवश्यकता थी।[1] कृष्ण सम्प्रदाय की भाँति राम सम्प्रदाय भी इस रोग से अछूता न रह पाया था। दनुजदलन, लोकरक्षक, मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र अब सरयू के किनारे कामक्रीड़ा करने लगे। धनुष उनका शृंगार बन गया, सीता के व्यक्तित्व का मार्दव और आदर्शगुण की शृंगारिकता में लुप्त हो गया और सीता का भी केवल रमणी रूप ही शेष रह गया।[2] गुरुपूजा के कारण भी अनाचार को प्रोत्साहन मिल रहा था। मंदिरों में देवदासियों का सौन्दर्य और घुँघरूओं की झनकार सुनाई पड़ती थी।

अब शेष रह जाते हैं निर्गुण सम्प्रदाय और सूफी मत वाले। निर्गुण सम्प्रदाय वाले बाह्याडम्बर की अपेक्षा आंतरिक शुचिता को अधिक महत्व देते थे।

1- रीतिकाव्य की भूमिका- डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 17

2- हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास-षष्ठ भाग, सं-डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 18

लालदासी, सतनामी, नारायणी सम्प्रदाय जनता को प्रभावित करते थे। प्राणनाथ बल्लासाहब भीखा, पलटूदास, चरणदास, सहजोबाई तथा दयाबाई, जगजीवनदास, दूलनदास तथा बाबा धरनीदास निर्गुण सम्प्रदाय के थे। मुसलमानों में शेख मुइनुद्दीन, चिश्ती का चिश्तिया सिलसिला, निजामियाँ, नक्शबन्दियाँ, कादरिया, शतारिया वगैरह संप्रदाय थे। परन्तु इन सब में किसी प्रकार की मौलिकता के दर्शन नहीं होते। 'कबीर की क्रान्तदर्शी प्रतिभा, नानक और दादू की द्रवणशीलता और सुन्दरदास की विद्वता इनमें दुर्लभ थी। ये लोग तो बानियों के प्रचारक मात्र थे, सृष्टा नहीं। प्रगति और सुधार का वह दुर्दम उत्साह, आहत आत्मा की पुकार, जिसने 15वीं शताब्दी में सामाजिक और धार्मिक क्रांति उपस्थित कर दी थी, इस पतनकाल में सम्भव नहीं थी।[1]

इस तरह हम देखते हैं धर्म का कोई भी अंग प्र० अनाचार से अछूता नहीं रह पाया था। अपनी उज्ज्वलता, अपनी निर्मलता तथा पवित्रता विलासिता और श्रृंगारिकता की कालिमा में विलीन कर चुकी थी और जो अनाचार से अपने को बचा कर रखे हुए थे उनमें कोई मौलिक चेतना का संचार नहीं हो पाता था क्योंकि इस कालिमा से भरे युग और व्यक्तियों में इतना तेज, इतना प्रभाव बनाये रखने की शक्ति समाप्त हो चुकी थी। इस परिस्थिति का प्रभाव लखपति जससिन्धु में भी यथेष्ट मात्रा में प्रतिबिम्बित है। कृष्ण और ~~अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति~~ राधा के नाम से नायक नायिका वर्णन प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण-राधा का श्रृंगार, उनके एक दूसरे के प्रति उपालम्भ इत्यादि मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कुँवरकुशल ईश्वर से भक्ति की अथवा मोक्ष की याचना नहीं करते वरन् महाराव लखपति जी का राज्य अचल रहे, उनके धन में वृद्धि हो, उन्हें सुख की प्राप्ति हो, ऐसी ही याचना की जाती रही है। स्वयम् के लिए धन की माँग ही करते हैं।[2]

1- रीतिकाव्य की भूमिका- डॉ० नगेन्द्र, पृ० 19

2- देखिये- प्रस्तुत० प्रबंध का 'भक्ति नीति वर्णन'।

साहित्यिक परिस्थिति :

इस युग में साहित्य का चरमोत्कर्ष हुआ । साहित्य-सरिता इतनी शतमुखी होकर किसी भी युग में नहीं बही । वैसे तो इस समय में रीति काव्य और श्रृंगार काव्य ही विपुल मात्रा में रचा गया । लेकिन साथ ही साथ वीरकाव्य, भक्तिकाव्य, नीति काव्य ग्रन्थों की संख्या भी कुछ कम नहीं है । इस समय में कला अपने वास्तविक रूप में हमारे समक्ष आई है । यहाँ पर सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस समय में किस प्रकार के और कैसे रीतिग्रन्थों का प्रणयन हुआ -

रीतिकाल में रीतिग्रन्थ तीन प्रकार के मिलते हैं - एक सर्वांग निरूपक ग्रन्थ इनमें काव्यशास्त्र के सभी अंगों उपांगों पर प्रकाश डाला गया है । उदाहरणतः चिन्तामणि-कविकुलकल्पतरु, देव-शब्द-रसायन, सूरति मिश्र-काव्यसिद्धांत, श्रीपति-काव्य सरोज, भिखारीदास- काव्य निर्णय इत्यादि । मात्र श्रृंगाररस का विवेचन करनेवाले ग्रन्थ- केशवदास-रसिकप्रिया, चिन्तामणि-श्रृंगार मंजूरी, तोष-सुधानिधि, ~~कुलपति-रसरहस्य~~, सुखदेव-रसार्णव, देव-सुख-सागरतरंग, भिखारीदास-श्रृंगार निर्णय, पद्माकर-जगद्विनोद । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थ भी रचे गये जिनमें केवल अलंकारों का ही विवेचन किया गया है । जैसे- केशव-कविप्रिया, मतिराम-ललितललाम, भूषण-शिवराजभूषण, पद्माकर-पद्माभरण, प्रतापसाहि-व्यंग्यार्थ कौमुदी, गोप-रामालंकार, रामचन्द्रभूषण, रसिक सुमति- अलंकार चन्द्रोदय । कुछ कवियों ने छन्द पर भी अपनी लेखनी चलाई है - केशव-छन्दमाला, नन्दकिशोर-पिंगलप्रकाश, भिखारीदास-छन्दोर्णव, सुखदेव-छन्दविचार । कवि कर्म की दृष्टि से भी इस युग में विविधता देखने को मिलती है । कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लक्षण अपने दिये लेकिन उदाहरण अन्य कवियों के लिए । जैसे- जसवन्तसिंह-भाषाभूषण, दूलह-कविकुलकण्ठाभरण, रसरूप-तुलसीभूषण। दूसरे वे हैं जिन्होंने लक्षणानुसार ही सुन्दर उदाहरणों का निर्माण किया है । केशव, चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, गोप, भिखारीदास, पद्माकर इत्यादि

इसी वर्ग के अंतर्गत आते हैं। तीसरे वे हैं जिन्होंने कोई लक्षण न देकर लक्षणानुसार सुन्दर उदाहरण हिन्दी साहित्य को प्रदान किये हैं, जैसे- बिहारी। इसके अलावा भी एक ऐसा वर्ग है जो विशुद्ध प्रेम की पीर को जाननेवाला है। इन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए स्वच्छ मार्ग का निर्माण किया और किसी बंधन में न बँधकर स्वच्छंद रूप में अपने हृदय के भावों को सहज, सरल तथा सरस शब्दावली में हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। घनानन्द, ठाकुर, बोधा, आलम इसी वर्ग के कवि हैं। इस दृष्टि से 'लखपतिजसिसिन्धु' एक सवांग निरूपक ग्रन्थों की श्रेणी में आता है। जो काव्य के समस्त उपांगों का विवेचन करने वाला है। इसी तरह कवि कर्म की दृष्टि से कुँवरकुशल, केशवदास तथा चिन्तामणि आदि आचार्यों की परम्परा में आते हैं। इन्होंने लक्षण देने के बाद स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। काव्यांग निरूपण के अंतर्गत लक्षण देते हुए सुन्दर उदाहरणों की विनियोजना की है।

इस युग की दूसरी विशेषता श्रृंगार वर्णन की है। श्रृंगार वर्णन की अतिशयता इस युग में मिलती है। इन्होंने श्रृंगार का कोई भी पक्ष नहीं छोड़ा। नारी का श्रृंगारिक रूप ही प्रधान हो गया था। श्रृंगार के जितने विविध पक्षों पर इस युग में लिखा गया उतना अन्य किसी युग में नहीं। श्री ब्रजकिशोर मिश्र के शब्द इस तथ्य पर प्रकाश डालने में बहुत कुछ सहायक होते हैं - 'नारी को उसके सर्वांगीण रूप में देखा था। उसके अंगों को सराहा था, इसके स्वभाव को समझा था और उसके जीवन के साथ क्रीड़ा की थी। कभी उसे गृहकार्य करते देखा, कभी छिपकर उसे स्नान करते देखा, कभी जल भरते देखा और कभी अपने ही अंगों की सराहना करते देखा। 'आँख मूँदिबो' खेलने की आयु से लेकर निस्संकोच 'बालम सो दृग जोरने' तक की परिस्थितियों का उन्होंने गहरा अनुभव प्राप्त कर लिया था, तब फिर उनके चित्रण सच्चे हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।[1] वास्तव में

1- हिन्दी और उसके कलाकार-फूलचंद जैन 'सारंग', पृ0 157 से उद्धृत।

रीतिकालीन कवियों का श्रृंगार वर्णन लौकिक जगत को छूता है। हृदय की मात्र एक पक्षीय सच्ची अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही हुई है। साथ-साथ दाम्पत्य जीवन की झाँकियाँ भी मिलती है। इन्होंने दाम्पत्य प्रेम का ही प्रमुख रूप से विवेचन किया है। स्वकीया को ही प्रमुख स्थान मिला है। इस युग में विशुद्ध लौकिक श्रृंगार की ही व्यंजना देखने को मिलती है। श्रृंगार युग की रति उस उच्च काल्पनिक स्तर से नीचे यथार्थ भूमि पर उतर भक्ति के छद्मवेशी आवरण को दूर फेंक यथार्थवादी बन गई थी। श्रृंगारी कवि इस रति की साधना को ही जीवन का और मुक्ति का एक मात्र साधन मानने लगे थे।[1] लखपति जससिन्धु में भी इसी श्रृंगारिक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इस श्रृंगार वर्णन के पात्र राधा और कृष्ण है जिनमें अनन्य प्रेम देखने को मिलता है जो एक दूसरे से मिलने के लिए उत्सुक रहते हैं। इन दोनों का प्रेम परस्पर चुहलबाजी करते हुए तथा प्रिया को प्रिय के हाथों स्वयं सजाने की लालसा को लिए हुए है। जो मिलन स्थली पर नायक को आने का निमन्त्रण भी देती है और कभी खण्डिता नायिका के रूप में उपालम्भ भी देती है।

इस युग के साहित्य में अतिशय अलंकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। यह युग अलंकरण का युग है, अपनी कविता -कामिनी को सजा सँवार कर प्रस्तुत किया जाता था। इसके पीछे कई कारण काम करते थे। एक तो दरबारी वातावरण है। इस युग की कविता अधिकांशतः दरबारी वातावरण में ही जन्मी, पली और बढ़ी है। इसलिए इसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। दरबारी वातावरण सामन्तवादिता, विलासिता तथा शानो-शौकत से सम्पन्न रहा है। अपनी शान-शौकत, तड़क-भड़क बनाये रखने का हर सम्भव प्रयत्न करते थे। इसलिए ही इस प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं।

1- हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-राजनाथ शर्मा, पृ0 401

दरबार में कविता सुनाई जाती थी । दूसरे को चमत्कृत करना, दूसरों को प्रभावित करके उनसे वाहवाही लूटना ही इनका प्रमुख कार्य था इसलिए इतने चमत्कारपूर्ण कलात्मक काव्य का सृजन हो सकता था । इस युग में विषय को कभी भी इतना महत्त्व नहीं मिला । कैसे कहा जाता है यही मुख्य बात थी । विषय का महत्त्व उस कविता में कभी नहीं रहा । राजाओं के उद्यानों और उपवनों में जो जलाशय या फुहारे बने होते हैं, उनमें जल का महत्त्व नहीं होता । महत्त्व उस जलाशय या फुहारे में खचित मीनाकारी, पच्चीकारी और मंडनीशिल्प का होता है । उसी प्रकार उस कविता में वास्तविक महत्त्व कविता के कहने की शैली, उसकी वक्रता, वाग्विदग्धतशब्द चयन और मण्डन शिल्प का होता है । क्या कहा जाता है इसका महत्त्व नहीं था, किस प्रकार कहा जाता है - इसी का सारा चमत्कार था ।[1] यह सब इसलिए होता था ताकि दूसरों पर अपनी धाक जमा सके । दूसरों को अधिक से अधिक प्रभावित करने के लिए ही इतने सब पापड़ बेलने पड़ते थे । इसलिए ही इस युग की कविता कलात्मक अधिक और भावात्मक कम है । पहले भाव मुख्य था और वस्तु गौण और अब वस्तु ने प्रमुख स्थान ले लिया और भाव का स्थान गौण हो गया । "जब प्रासादबन जाता है तब पच्चीकारी की आवश्यकता होती है ।[2] अब तक हिंदी साहित्य रूपी प्रासाद का निर्माण हो चुका था । अब पच्चीकारी, मीनाकारी, रंग-बिरंगे बेल बूटों के द्वारा उस प्रासाद की सजावट का काम शेष था । यह कार्य रीतिकालीन कवियों द्वारा सम्पन्न हुआ ।लखपति-जससिन्धु भी दरबारी वातावरण में रचा गया ग्रन्थ है । कुँवरकुशल महाराव लखपति जी के राज्याश्रित कवि थे । दरबार में की गई कविता अलंकरण को धारण करनेवाली होती है । इसके अतिरिक्त स्वयम् लखपति जी भी तड़क-भड़क तथा साज-सज्जा को पसन्द करनेवाले थे । अत: आश्रयदाता की अभिरूचि के अनुरूप तथा दरबारियों पर प्रभाव डालने के कारण आलंकारिक काव्य का सृजन कर सके ।

1- दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक-डॉ0 त्रिभुवनसिंह, पृ04 श्रीकृष्णलाल की लिखी हुई प्रस्तावना में से उद्धृत ।

2- हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी, पृ0 138, 39

इस युग में मुक्तक रचना ही अधिक हुई है। प्रबन्धकाव्य भी रचे गये, परन्तु कम मात्रा में। रीतिकाल की कविता का जन्म दरबार में हुआ। दरबार में एक दूसरे की कविता सुनते और सुनाते थे। प्रबन्ध काव्य को सुनने का धैर्य दरबारियों में नहीं था और न ही सुनाने का जोखम कवि उठा सकता था। इसके द्वारा इतना चमत्कृत भी नहीं किया जा सकता था जितना मुक्तक के द्वारा। इसलिए ही मुक्तक में रचना हुई। उर्दू के कवि शेर और बहर का प्रयोग करते थे तथा हिन्दी कवि दोहे, सवैया और कवित्त का। अधिकांश: साहित्य इन्हीं छन्दों में रचा गया। मुक्तक रचना की इस प्रवृति का प्रभाव भी लखपति जससिन्धु पर यथेष्ट मात्रा में मिलता है। यह ग्रन्थ मुक्तक छन्दों में रचा गया है। इसमें प्रबन्धात्मकता का पूर्णत: अभाव है। ~~क्योंकि दरबारी कविता होने के नाते दरबारियों को प्रबन्धात्मक रचना नहीं सुना सकते थे~~। दूसरे 'लखपति जससिन्धु' काव्य ग्रन्थ न होकर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है जिसमें कथावस्तु को स्थान नहीं मिलता। रीतिकालीन प्रवृति के अनुरूप ही कुँवरकुशल ने भी अपने ग्रन्थ में अधिकांशत: दोहा, कवित्त तथा सवैया छन्दों का ही उपयोग किया है। काव्यांगों के लक्षण दोहे व सोरठे में देकर कवित तथा सवैया में उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इसके अतिरिक्त रीतिकाल में सबसे अधिक काव्य प्रकारों में साहित्य रचना हुई है। रीति ग्रन्थ और श्रृंगार ग्रन्थ तो रचे ही गये साथ-साथ वीर काव्य, भक्ति काव्य, नीतिकाव्य, तथा प्रशस्ति परक काव्य भी अस्तित्व में आये। इस समय कई वीरकाव्यों की भी रचना हुई जिनमें हिन्दुओं का विद्रोह, आक्रोश देखने को मिलता है। लाल-छत्रप्रकाश, पद्माकर-हिम्मत बहादुर विरूदावली, सूदन-सुजान-चरित्र, श्रीधर-जंगनामा, भूषण-छत्रसाल-दशक, शिवराजभूषण, शिवा बावनी, प्रमुख है। सेनापति के कवित रत्नाकर में राम-रावण युद्ध का वर्णन मिलता है। खुमान ने अपने ग्रन्थ 'लक्ष्मणशतक' में लक्ष्मण और मेघनाथ के युद्ध का वर्णन किया है। चन्द्रशेखर का 'हमीर-हठ' भी प्रमुख वीर काव्य ग्रन्थों की श्रेणी में आता है। इसके सम्बंध में एक विद्वान् का कथन है- इस युग के दर्जनों प्रबन्ध काव्यों में वीररस का सुन्दर और प्रभावशाली चित्रण

हुआ है। चन्द्रशेखर का 'हमीर हठ' अकेला रीतिकाल में वीररस की पताका फहराने में समर्थ है।[1] भक्तिकाव्य भी काफी संख्या में रचा गया। भक्ति की चारों शाखाओं के कवि इस युग में भी विद्यमान हैं। गुरु गोविन्दसिंह, नागरीदास, चरनदास, गुमान मिश्र, दयाबाई, सहजोबाई, चाचाहित वृन्दावनदास इत्यादि भक्त कवियों की श्रेणी में आते हैं। इसके अतिरिक्त शृंगारी कवि ग्वाल, बिहारी, देव, भिखारीदास, ने भी भक्तिपरक काव्य और पदों की रचना की है। जिनमें उनकी अनन्यता दैन्य, प्रभुपर निर्भरता, कातरता, आत्मग्लानि और विनय के दर्शन होते हैं। रीतिकाल में रचे गये नीतिकाव्य, जनजीवन के अनुभव से पूर्ण है। इन्होंने सरल भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों के द्वारा अपने नीति वचन सामान्य जनता तक पहुँचाये हैं। ये जनजीवन के निकट के कवि हैं। इनमें गिरिधर कविराय, दीनदयाल गिरि, वृन्द, वैताल और घाघ कवि हैं। प्रशस्तिपरक काव्यों की भी संख्या कुछ कम नहीं है। इनमें अपने आश्रयदाता की प्रशंसा मिलती है, उनकी वीरता के बखान किये हैं। उदाहरणतः केशव -वीरसिंह देव चरित, जहाँगीर जस चन्द्रिका, भूषण-शिवराजभूषण, रतनकवि-फतेहसिंह प्रकाश, शंभुनाथमिश्र-अलंकार दीपक। इन ग्रन्थों में शैली रीतिकालीन है उसी के माध्यम से अपने आश्रयदाता की प्रशंसा का उद्देश्य पूरा किया है। विशुद्ध प्रशस्ति-परक काव्य ग्रन्थ प्रमुख हैं - भूषण-शिवाबावनी, छत्रसाल-दशक, मुरलीधर-जंगनामा, लाल-छत्रसाल प्रकाश, सूदन-सुजान चरित्र, चन्द्रशेखर-हम्मीर हठ, केशवराम-बानीविलास। इसी प्रशस्तिपरक काव्यों की परम्परा में कुँवरकुशल कृत 'लखपति जससिन्धु' भी आता है। रीतिकालीन शैली में ग्रन्थ का निर्माण करते हुए उसी के माध्यम से अपने आश्रयदाता का बखान किया है। उसके चारित्रिक गुणों, उसकी अभिरुचियों, उसकी विशिष्टताओं, उसके शौर्य, पराक्रम, बल तथा प्रताप का विशद् रूप से वर्णन किया है।

सारांशतः हम कह सकते हैं कि रीतिकालीन कविता विशुद्ध कविता की दृष्टि से अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। जितनी उन्नति इस समय में कला

1- हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-राजनाथ शर्मा, पृ0 412से उद्धृत।

की हुई उतनी किसी भी अन्य युग में नहीं हुई । 'कला कला के लिए है' यह तथ्य इस युग में साकार रूप धारण कर लेता है । कवियों की कारयित्री प्रतिभा के स्पष्ट दर्शन रीतिकालीन साहित्य में मिलते हैं । रीतिकालीन कविता-कामिनी के लिए एक विद्वान् का कथन अक्षरश: सत्य प्रतीत होता है - 'अलंकार इनकी कविताओं का शृंगार है, नायिका भेद इनकी कविताओं की भावभंगिमा है, रूप तथा ऋतु वर्णन इनकी कविताओं की भाषा है तथा शृंगार वर्णन इनकी रचनाओं की आत्मा है ।[1]

कच्छ की परिस्थितियाँ :

भारत के मानचित्र में गुजरात राज्य पश्चिम में स्थित है । यहाँ पर लगभग छठीं, सातवीं शताब्दी में गुर्जर जाति आकर बसने लगी इसलिए लगभग नवीं, दसवीं शताब्दी से 'गुर्जर भूमि' के नाम से इस राज्य को पहचाना जाने लगा । यहाँ की भाषा को भी 'गुर्जर भाषा' अथवा 'प्राकृत-भाषा' ही के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा । सर्वप्रथम गुजरात के प्रसिद्ध कवि प्रेमानन्द ने अपने काव्य में 'गुजराती' शब्द का प्रयोग किया -

हवे उपनी माहरे अभिलाषा,
बांधुं नागदमण गुजराती(रूप)भाषा ।[2]

1- दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक-डॉ0 त्रिभुवनसिंह, पृ0 123

2- साहित्य प्रवेशिका-हिम्मतलाल गणेशजी अंजारिया, पृ0 9

गुजरात के दक्षिण में स्थित कच्छप्रदेश है। कच्छ एक सूखा प्रदेश है। तीन ओर से पानी घिरा हुआ है। इसके पूर्व में सूखा रेगिस्तान है, पश्चिम में अरबी समुद्र और सिन्धुमुख, दक्षिण में कच्छी अखात और हिन्द महासागर है। इसका विस्तार पूर्व पश्चिम में 160 मील तथा उत्तर दक्षिण में 70 मील है। इसका क्षेत्रफल 6500 वर्गमील है।[1]

इसी कच्छ की राजधानी भुज नगर में कविवर कुँवरकुशल का आगमन हुआ। यहीं पर उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा मुखरित हुई। इसलिए हम उस समय की उन परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं कर सकते जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें प्रभावित किया, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि कोई भी साहित्यकार अपने आस-पास की परिस्थितियों से असम्पृक्त नहीं रह सकता। किसी न किसी रूप में उसकी रचनाओं में उन परिस्थितियों का प्रतिबिम्बन हो ही जाता है। इसलिए किसी भी साहित्यकार की रचनाओं को परखने के लिए उसकी तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखना आवश्यक है अन्यथा हम उसके साथ उचित न्याय नहीं कर पायेंगे। सामान्य परिस्थितियों के अतिरिक्त भी उस विशेष स्थान का भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है जहाँ पर रहकर कवि काव्य-सृजन करता है। कुँवरकुशल पर जहाँ एक ओर रीतिकालीन हिन्दी प्रदेश की परिस्थितियों का प्रभाव परिलक्षित किया गया है वहीं यह भी दृष्टिगत कर लेना समीचीन होगा कि उस समय की कच्छ की परिस्थितियाँ कैसी थीं जिनके बीच रहकर कुँवरकुशल ने अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं।

राजनीतिक परिस्थिति :

राजनीतिक परिस्थितियों की दृष्टि से यह प्रदेश अधिक पीड़ित नहीं रहा। राजा देसल के समय में भुज पर अवश्य दो बार आक्रमण हुए, परन्तु राजा

1- कच्छ नो बृहद्इतिहास-जयरामदास जेठाभाई गाँधी, पृ0 8

देसल और उनके पुत्र लखपति जी ने शत्रुओं को परास्त कर भगा दिया । सन् 1730 में होनेवाले युद्ध में कुँवर लखपति जी ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और सफलता प्राप्त की । अपनी मनौती के फलस्वरूप कुँवर लखपति जी की माता ने विजयी पुत्र का स्वर्ण, हीरे और जवाहरातों से तुलादान किया । देसल अक्सर कुँवर लखपति जी को राजकीय मन्त्रणा के लिए औरंगजेब के दरबार में भेजा करते थे । इसका परिणाम यह हुआ कि लखपति जी में राजसी तड़क-भड़क के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा । उनकी इस मनोवृति का दिग्दर्शन 'लखपति-जससिन्धु' में इस प्रकार से किया गया है -

> आमिल साहनि तैं अकसि साहनि तैं सुसनेहु ।
> साहिन जैसी साहेबी कछ साहि कैं गेहु ।[1]

परन्तु पैसों की कमी के कारण अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाते थे । देसल का स्वभाव इसके विपरीत था । फलस्वरूप कुँवर लखपति जी ने पिता को जेल में डाल दिया और मंत्री देवकरन को मरवा डाला । पिता की मृत्यु के बाद तो खुल्लमखुल्ला खर्च करने लगे । ये अपने मंत्री से अपेक्षा रखते थे कि उनकी धनलिप्सा सदैव पूरी की जाये । जो मंत्री असफल होता था उसकी समस्त पूँजी को जब्त कर लेते थे । इसी असन्तोष के कारण उन्हें बार-बार मंत्री बदलना पड़ता था । इस तरह कुँवर लखपति जी राजनीतिक दृष्टि से कभी भी प्रसन्न न हो सके । प्रारम्भ से ही युद्धकालीन वातावरण में रहने के कारण इनके अंदर साहस और वीरता का अवश्य संचार हुआ । इसलिए ये वीर तथा साहसी और निडर राजा के रूप में हमारे सामने आये । चूँकि कुँवरकुशल के वर्ण्य-विषय भी यही रहे इसलिए इनकी वीरता के गुण गाना इनका स्वाभाविक कार्य था । इसलिए ही हमें लखपति जससिन्धु में युद्ध के अनेक चित्र मिलते हैं । राजा की सेना, राजा का शौर्य, उनकी वीरता इत्यादि का बहुत ही विस्तृत वर्णन किया गया है ।

1- ल.ज.सिं0,प्र.त.छन्द संख्या 105,

~~2- वही-छन्द सं0 105~~

सामाजिक परिस्थिति :

यहाँ पर जातीय विभिन्नता पर्याप्त मात्रा में है। यहाँ की मुख्य जातियाँ अहीर, काठी और खारी हैं। सिन्ध से आनेवाली जातियों में सारस्वत, कायस्थ, चारण, संघार, भियांना, जाड़ेजा इत्यादि हैं जिन्हें बुलाया गया था। चावड़ा, सोलंकी, खवास, सैयद, पठान, अंग्रेज, बलन्दे, फिरंगी, अरबी, फारसी, सिन्धी तथा रोमी और मलबारी जातियाँ भी समय-समय पर आती रहीं और आकर रहने लगीं। इन जातियों का वर्णन कुँवरकुशल ने 'लखपति जससिन्धु' में किया है -

सैयद पठान औ मुगल शेष। एही अमीर अरकरि अशेष।[1]
संघीरू पारसी फराफीसीनि। किलमाक फिरंगी फारसीनि।
आरबी बिलंदे अंग्रेजु। रोमी मलबारी अति रजु।।[2]

अनेकविध जातियों के होते हुए भी परस्पर विरोध नहीं था। जब ये जातियाँ आकर रहीं तब कच्छी लोगों का इनसे प्रभावित होना स्वाभाविक था और हुए भी। परन्तु उन सबके प्रभाव को कच्छी रूप देने के बाद स्वीकार किया जैसा कि भारतीयों का आदर्श रहा है। प्रत्येक प्रभाव को भारतीयता के रंग में रंग देते हैं। इस प्रकार इस समय का समाज अनेकविध देशी-विदेशी जातियों का बना हुआ था। इस सामाजिक वैविध्य का कारण था इस प्रदेश की व्यापारिक एवं व्यावसायिक परम्परा।[3] कच्छ की प्रजा राजा को ईश्वर के समान मानती थी।

1- ल.ज.सिं० छन्द सं० 66

2- वही- छन्द संख्या 149

3- महाराव लखपति-व्यक्तित्व और साहित्यिक कृतित्व-डॉ० कांतिलाल एम शाह, पृ० 19

राजा स्वयं भी बड़े प्रजावत्सल्य और न्यायप्रिय थे। कहा जाता है कि एक बार राजा खेंगार ने फरियादी की पुकार पर अपना भोजन तक अधूरा छोड़ दिया था।[1] उच्च वर्ग और निम्न वर्ग में परस्पर द्वेष की भावना नहीं थी। उच्च वर्ग में गुलाम रखने की प्रथा थी। सीदी जाति के व्यक्तियों को गुलाम रखा जाता था। ये लोग अफ्रीका से लाये जाते थे। यहाँ पर अनुकरण की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। अधिक से अधिक गुलाम रखने में गर्व का अनुभव करते थे। ये गुलाम व्यक्ति बड़े ही हँसोड़ और मनमौजी थे।[2] इस उच्चवर्गीय समाज के ऊपर स्वयं महारावों का जाडेजा वंशी शासक समाज था, जो केन्द्रवर्ती शासक के परिवार और उसके अन्य वंशज अर्थात् भायातों के रूप में राजधानी भुज और अनेक छोटी-छोटी जागीरों में फैला हुआ था।[3] स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था। लड़कियों का जन्म होते ही मार दिया जाता था। परन्तु लखपति जी ने अपनी पुत्री का बड़ौदा के गायकवाड़ दामाजीराव से विवाह करके विद्रोही व्यक्तित्व का परिचय दिया। जनता अशिक्षित थी। इसलिए अपने धन्धे के चिन्ह को चित्रित करके लहिए (लेखक) द्वारा साक्ष्य के रूप में संक्षिप्त नाम परिचय लिखवा देते थे।[4] वर्ण-व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी। इस वर्ण-व्यवस्था का स्वयं कुँवरकुशल ने लखपति जससिन्धु में उल्लेख किया है।

बसतु जहँ वरन आश्रम विवेक।
कीजत सुधर्म अरु अरथ काम। द्विज राजशास्त्रधुनि होत धाम।[5]

1- महाराव लखपति-व्यक्तित्व और साहित्यिक कृतित्व-डॉ० कांतिलाल एम शाह, पृ० 19 से उद्धृत।

2- वही- पृ० 21 से उद्धृत।

3- वही- पृ० 22 से

4- वही- पृ० 23

5- ल.ज.सिं०, द्वि.त.छन्द सं० 153, 56

आर्थिक परिस्थिति :

भुज के प्रमुख आय के साधन व्यापार और कुटीर उद्योग हैं। महाराव लखपति सिंह के समय में होनेवाले समस्त कुटीर उद्योगों का वर्णन लखपतिजससिन्धु की द्वितीय तरंग में मिलता है -

"बढ़ई विशेषा बहु संग तरास। अध्यन राज वल्लभ अभ्यास"।
"घरतु घन लोह सारनि लुहार। तरवारि खंजरबगतर कटार।[1]

व्यापार जलमार्गीय और जमीन के रास्ते से होता था। जलमार्गीय सम्बंध हिन्दुस्तान एशिया और अफ्रीका के साथ प्रारम्भ से ही रहे हैं। मांडवी से ऊन, रूई, हाथीदांत, खजूर, जीरासरी, चावल, चन्दन, लोबान इत्यादि विदेशों को निर्यात किया जाता था और विदेशों से लकड़ी, कत्था, सुपारी, कपड़ा, बाजरी, हल्दी इत्यादि वस्तुएँ आयात होती थीं। जमीन के रास्ते होनेवाला व्यापार सिन्धु, गुजरात, मारवाड़, राजपूताना और काश्मीर तक फैला हुआ था। कच्छी व्यापारी शक्कर, गुड़, रंगीन कपड़ा, रेशम, खजूर, फिटकरी, सोने-चाँदी की नक्काशी की हुई चीजें गाड़ी, ऊँट और गधों पर लादकर ले जाते थे, वहाँ से चावल, बाजरी, जीरा, सोने-चाँदी की जरी, गरम शाल इत्यादि लेकर आते थे।[2] इसके अतिरिक्त कच्छ में लोहे की वस्तुएँ बनती थीं, नमक का व्यापार भी खूब प्रमाण पर होता था। कच्छ की कढ़ाई का काम सारे हिन्द में मशहूर रहा है। इन कुटीर उद्योगों के अतिरिक्त एक ऐसा वर्ग भी था जो अमीरों के यहाँ नौकरी करके अपना जीवन यापन करते थे। "बहुसंख्यक लोग सेठ, सौदागरों, ठाकोर, भायात एवं शासक के यहाँ नौकर होते थे।[3] महाराज देसल के समय भी आर्थिक व्यवस्था को

1- ल.ज.सिं, द्वि.त.छं0 सं0 २०२, २०७

2- कच्छ देशनो वृहद इतिहास-जयरामदास जेठाभाई नवगाँधी, पृ0 12

3- महारावलखपतिसिंह-व्यक्तित्व और साहित्यिक कृतित्व-डॉ0 कांतिलाल एन शाह, पृ0 24

सुधारने के प्रयत्न किए थे। देवकरन ने अपनी योग्यता और सूझबूझ द्वारा राजकीय आय को बढ़ाया तथा उद्योग व्यापार बढ़ाया। इसके लिए उद्योग-व्यापार को प्रोत्साहन दिया, भूमिकर की उचित व्यवस्था की तथा किसानों को आर्थिक सहायता देकर उत्पादन को प्रोत्साहन दिया।[1] लखपतिसिंह इनसे भी दो कदम आगे थे। इन्होंने रामसिंहमालम के द्वारा अनेक कारखाने स्थापित कराये जिनसे एक ओर तो राज्यकोष में अर्थ की वृद्धि हुई दूसरी ओर जनता को रोजगार मिल सका, जिससे उनके सामने रोजी-रोटी की समस्या हल हो सकी। इस तथ्य का भी उल्लेख 'लखपति जससिन्धु' में मिलता है।[2] लखपतिसिंह स्थापत्य कलाभिरूचि वाले थे अतः अत्यन्त खर्चीले 'आइना-महल' का निर्माण करवाया, जिससे लोगों को मजदूरी मिलती रही। राजा देसल के समय बाह्य आक्रमणों का जो भय था, इस समय जाता रहा। इसलिए जो व्यय सुरक्षा पर होता था, वह भी अब राज्य-कार्यों पर किया जाने लगा। लखपति सिंह सदैव दीवान का पद अमीर व्यक्तियों को देते थे। असफल होने पर उनकी समस्त सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाता था। उस हस्तगत धन से कोष की श्रीवृद्धि होती थी। एक अन्य उपाय से भी राज्य की आर्थिक स्थिति में वृद्धि की। राजा एक कलात्मक खाट बनवाते थे जिसका नाम 'लाखाशाही ढाढियों' था। इस पर एक रात सोने के बाद नीलामी देकर ऊँची कीमत पर बेचा जाता था।[3] इससे प्राप्त होनेवाली आय को कोष में मिला दिया जाता था। इस तरह आर्थिक दृष्टि से कच्छ की प्रजा पीड़ित न थी। उसके पास आय के पर्याप्त साधन थे जिनसे उन्हें रोजी-रोटी की चिन्ता कम सताती थी।

1- वही- पृ0 26

2- ल.ज.सिं, द्वि.त.छन्द सं0 228-30

3- महारावलखपतिसिंह-व्यक्तित्व और साहित्यिक कृतित्व-डॉ0 कांतिलाल एम शाह, पृ0 29-30 पर आधारित।

धार्मिक परिस्थिति :

कच्छ धर्मसहिष्णु प्रदेश रहा है। यहाँ पर मुख्य रूप से वैष्णव, शैव और शाक्त धर्म प्रचलित थे। साथ ही आसापुरा और रूद्राणी की पूजा भी परम्परित रूप से चली आ रही थी। आसापूरा देवी से निम्न प्रार्थनाये की जाती थीं- हे माता न मैं कुछ जानता हूँ, न समझता हूँ तू सर्वज्ञ है। मुझे भाग्य और लक्ष्मी का वरदान दे।"

जिस प्रकार किसी तम्बू की ऊँचाई और स्थिरता का आधार उसके साथ लगी मजबूती से खिंची हुई रस्सियाँ हैं, उसी प्रकार मालिक की अर्थात् हे देवी। तेरी बड़ाई (महानता) अपने भक्तजनों पर की गई तेरी कृपा है।[1] इसी कारण कुँवरकुशल ने अपने सभी ग्रन्थारम्भ में सूरज, शिव और आसापूरा की वन्दना की है। इतना ही नहीं आसापूरा देवी पर एक अलग ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम 'मातानो छन्द' है। उपर्लिखित प्रथम प्रार्थना में सम्पत्ति की याचना की गई है ऐसा ही कुँवरकुशल भी व्यक्त करते हैं -

> दियो संपदा सुष्ष सातूं सदाइ।। मही सु सुष्ष माणोकरौं माइ माइ।।
> भरौं कच्छ में संपदामन्न भाइ।।लहै कौड़ि कौड़ानि लोका लुगाइ।।
> करी भट्टारक वीनती। धरौं अम्बिका कांन।।
> कुंअरकुशल कवि ने सदा। दो सुष्ष संपति दांन।।[2]

1- महाराव लखपतिसिंह-व्यक्तित्व और साहित्यिक कृतित्व-डॉ० कांतिलाल एम शाह, पृ० 32 से उद्धृत।

2- मातानो छन्द, छन्द-28-30

यहाँ के व्यापारियों का मुख्य धर्म जैनधर्म था। जैन धर्म की श्वेताम्बरी शाखा ही स्वीकृत रही है। नागपूजा भी प्रचलित रही है। रावहमीर जी के समय में मंदिर के पुजारी को राजा का स्थान दिया गया था। राजा को भी स्वयं उसका अभिवादन करना पड़ता था।[1] इतना ही नहीं, कच्छी व्यक्तियों में धर्म के प्रति उदारता दिखाई पड़ती है। हिन्दू देवताओं के समान ही मुस्लिम शाह मुरीद को भी पूजनीय समझा जाता था। इसी समन्वय की भावना के कारण 1730 में हुए आक्रमण को विफल करने के लिए शाह मुरीद के भक्तों ने भी भरपूर सहयोग दिया था। राजा लखपति का झुकाव शिव भक्ति की तरफ था। संवत् 1805 में भुज में धर्म सम्मेलन हुआ जहाँ पर शिवरा मंडप की स्थापना की। लगभग सभी स्थानों के साधुओं को आमंत्रित किया गया था। यह सम्मेलन 10 दिन तक चलता रहा था।

अतः धार्मिक दृष्टि से कच्छ में परिस्थिति सामान्य ही रही। किसी प्रकार की उथलपुथल दृष्टिगत नहीं होती। लोगों में परस्पर समन्वय की भावना थी। यही प्रवृति लखपतिजससिन्धु में भी देखने को मिलती है। यद्यपि कुँवरकुशल तो एक जैन मुनि थे तथापि अपनी उदार तथा निरपेक्ष वृत्ति के अनुरूप अपने ग्रन्थों के प्रारंभ में जहाँ सूरज की वंदना की गई है वहीं सरस्वती, गणेश तथा आसापुरा की भी वंदना मिलती है। ग्रन्थ के भीतर भी सूरज आदि देवताओं का वर्णन किया है।

साहित्यिक परिस्थिति :

कच्छ की लिपि गुजराती है तथा शिक्षण, राजकार्य और लेखन व्यवहार की भाषा गुजराती है। फिर भी कच्छी भाषा ने एक प्रादेशिक भाषा के रूप में

1- महाराव लखपतिसिंह-व्यक्तित्व और कृतित्व-डॉ0 कांतिलाल एम शाह, पृ0 32 से उद्धृत।

स्थान प्राप्त किया है। उसके बाद वह साहित्य और काव्य का माध्यम बनी है। कच्छी कविता लोकसाहित्य और गाथाओं का सौन्दर्य उसमें निहित सर्जनतत्व तथा भाषा-लावण्य के लिए भी आभारी है। कच्छी भले लिखी न जाती हो परन्तु वह साहित्य और काव्य से समृद्ध बनी हुई है, इस बात से असहमत नहीं हुआ जा सकता।[1] कच्छी भाषा पर गुजराती, राजस्थानी तथा सिन्धी का प्रभाव यथेष्ट मात्रा में देखा जा सकता है। एक विद्वान् तो कच्छी भाषा को गुजराती की अपेक्षा सिन्धी की एक शाखा मानते हैं।[2] कच्छ का लोकसाहित्य मौखिक रहा है और अपने वास्तविक रूप में प्राकृत जैसी निर्मलता लिए हुए है। कच्छी काव्य में साहित्य और लोककथाओं की सम्पत्ति विपुल है इसी के पीछे मजबूत पीठिका रही है। कच्छी साहित्य अधिकतर कंठस्थ रहा है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चलता आ रहा है। कच्छ की लोककथाओं अथवा कथा गीतों में प्राचीन प्रेम और शौर्य की बातें वर्णित हैं। ये बातें पात्र प्रधान हों अथवा प्रसंगप्रधान परन्तु इनके निरूपण में मूल प्रवृत्ति प्रणय की रही है। किसी में रूप और यौवन, स्पर्धा और समर्पण, मिलन और वियोग मुखरित होता है, किसी में खानदानी स्वाभिमान, बद्ध,संघर्ष, शौर्य और स्वदेशाभिमान और कुर्बानी आस्थान प्राप्त किए हुए है। किसी कहानी में मैत्री और उदारता, भलाई और सहनशीलता अथवा न्याय और नीति के आदर्श को विशिष्ट स्वरूप में रखकर वर्णन किया जाता है तो किसी में सत्य और सतीत्व, क्षमा और धर्म, भक्ति और प्रीति इत्यादि श्रृंखलाबद्ध होकर अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।[3] कच्छी साहित्य में दान कथाओं का भी महत्व रहा है। कच्छी लोकसाहित्य का प्राचीन अंग भजन है जो जीवन के रहस्य खोलते से प्रतीत होते हैं और भक्ति रस से पूर्ण यह सन्तवाणी परम्परित रूप से प्रवाहित

1- कच्छनुं संस्कृति दर्शन-रामसिंह राठौर, पृ० 8,9

2- गुजरातनो इतिहास-प्रो०मौलाना सैयद अबुजफर नदवी, पृ० 35

3- कच्छनुं संस्कृति दर्शन-रामसिंह राठौर, पृ० 259-60

होती रही है । कच्छी साहित्य कथायें दूहा, भजन, गीत, काफी, सलोका, कहावत, गुजारत इत्यादि प्रसिद्ध रूपों और छन्दों में कही सुनी जाती है ।[1]

इसके अतिरिक्त राजदरबार में चारणों को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । राव भारमल से यह प्रथा प्रारम्भ हुई कि प्रतिदिन दरबार का प्रारंभ चारण की कविता के पाठ से तथा आशापूरा की स्तुति से होता था । राजा देसल के समय में भी दरबार में इन चारणों को पर्याप्त सम्मान प्राप्त था । एक दिन उन्होंने केशव जी से किसी अद्भुत चीज सुनाने के लिए कहा। तब केशव जी ने कहा -

वासव वाहन जनक सुता, ता सुत सुत जे होय ,
सो जाके ने नां बसे, संग न कीजो कोय ।।

अर्थात् वासव वाहन अर्थात् इन्द्रवाहन ऐरावत उसका जनक समुद्र, उनकी सुता सीप, उनका पुत्र मोती, उसका पुत्र सूरमा । यह सूरमा जिसके नेत्रों में बसता हो उसका संग कभी नहीं करना चाहिए ।[2]

इस तरह लखपति जी के लिए साहित्यिक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी । प्रारम्भ से ही ये कथायें सुनते रहे और अध्ययन करते रहे फलस्वरूप साहित्य के प्रति अनुराग बढ़ने लगा । इस जिज्ञासा कौतूहल की पूर्ति ब्रजभाषा पाठशाला के रूप में हुई । इस ब्रजभाषा पाठशाला में विद्यार्थियों को काव्य-दीक्षा दी जाती थी । इन विद्यार्थियों को खाना तथा आवास मुफ्त मिलता था । वर्षों तक रहकर अध्ययनोपरान्त परीक्षा ली जाती थी जिसमें एक विषय दिया जाता था जिस पर रचना करनी होती थी । इसके अतिरिक्त सभी ग्रन्थ मौखिक रूप से याद होने पर ही

1- महाराव लखपतिसिंह-व्यक्तित्व और कृतित्व-डॉ० कांतिलाल एम शाह, पृ० 38 से उद्धृत ।

2- कच्छनुं लोक साहित्य-दुलेराय कराणी, पृ० 377

परीक्षा ली जाती थी । विद्यार्थियों का खर्च वहन करने के लिए राजा लखपति जी की ओर से एक गाँव बख्शीश में दिया गया था । इस काव्यशाला के प्रथम आचार्य कनककुशल एवं कुँवरकुशल नियुक्त किए गए थे । इसका उल्लेख हमें 'लखपतिजससिन्धु' में भी मिलता है -

तदनु राउ देसल तनुज लषपति ललित उदार ।।
गुरु कहि राषे गांम दे परम मान करि प्यार ।।[1]

स्वयं इनमें भी साहस, वीरता और पराक्रम के गुण भरे हुए थे । ऐसे ही शूरवीर और पराक्रमी राजा के आश्रय में रहनेवाले कवि कुँवरकुशल किस प्रकार असम्पृक्त रह पाते । स्वभावतः ही इनकी रचनाओं में भी यही गुण आ गये । इन्होंने भी लोक-साहित्य की गाथायें सुनी होंगी और उनके प्रभावित हुए हुए होंगे । इसलिए ही राजा का वर्णन एक वीर राजा के रूप में कर सकने में समर्थ हो सके । परम्परित दान की प्रवृत्ति लखपति जी में थी इसलिए लखपति जी जससिन्धु में एक दानी के रूप में दिखाई पड़ते हैं ।

वास्तव में कच्छ और कच्छी का महत्व रहा है जिसे एक विद्वान् ने बहुत ही सुंदर शब्दों में कहा है - 'राज्यकर्ताओं की शूरवीरता और निडरता ने कच्छभूमि को कीर्तिवान बनाया है, योद्धाओं के बलिदान ने और स्वयं अनुभवों ने कच्छभूमि को गौरव पूर्ण बनाया है, कच्छी व्यापारियों की साहसिकता और व्यापार कुशलता ने कच्छभूमि को महत्वपूर्ण बनाया है ।[2]

अतः निष्कर्षतः हम कह सकते हैं लखपतिजससिन्धु पर जहाँ एक ओर

1- ल.ज.सिं0, तृ.त.छन्द सं0 25

2- कच्छनो वृहद इतिहास-जयरामदास जेठाभाई नयगाँधी, पृ04(प्रस्तावना)

रीतिकालीन हिन्दी प्रदेश की परिस्थितियों का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है वहीं दूसरी ओर भुज प्रदेश की परिस्थितियाँ भी समायोजित हुई हैं। रीतिकालीन हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर कुँवरकुशल ने लक्षणग्रन्थ की रचना के द्वारा अपने आश्रयदाता का सुयशगान किया है वहीं कच्छ की चारण प्रवृत्ति को भी दर्शाया है। जहाँ एक ओर हिन्दी प्रदेश के शासकों की भाँति उनकी शानो-शौकत का चित्रण मिलता है वहीं भुज के शासक की प्रजावत्सलता का भी चित्रण किया है। हिन्दी प्रदेश की धार्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप कृष्ण राधा के व्याज से सामान्य नायक नायिका का वर्णन मिलता है वहीं कच्छ की धर्मनिरपेक्षता से प्रभावित होकर कुँवरकुशल ने अपने ग्रन्थ में सभी देवी देवताओं की वन्दना भी की है। यद्यपि कुँवरकुशल एक जैनमुनि थे तथापि उनकी विस्तृत मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। इस तरह 'लखपतिजससिन्धु' का महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि अन्य रीतियुगीन लक्षण ग्रन्थों में तो केवल एक ही प्रदेश(हिन्दी) की परिस्थितियों का चित्रण देखने को मिलता है वहीं 'लखपतिजससिन्धु' में हिन्दी और गुजरात दोनों प्रदेशों की परिस्थितियों का प्रतिफलन दृष्टिगत होता है।

--